गीता में भक्तियोग

महाभारत के भीष्मपर्व में कृष्ण और अर्जुन के संवाद के रूप श्रीमद्भगवद्गीता एक प्रसिद्ध तथा स्वतंत्र ग्रंथ है। अपने अठारह अध्यायों में गीता अनेक प्रकार के व्यावहारिक उपदेश देती हैं जिनसे चित्त में अनुपम शान्ति तो मिलती ही है, भौतिक जीवन में निरन्तर सक्रिय रहने की प्रेरणा भी प्राप्त होती है। भगवद्गीता में सभी अध्यायों के शीर्षकों में 'योग' शब्द का प्रयोग किया गया है। यहाँ योग मोक्ष के विविध मार्गों का समन्वय करता है। यह उपनिषदों का साररूप ग्रंथ है। शंकराचार्य ने इसके भाष्य की भूमिका में कहा है–

तदिदं गीता-शास्त्रं समस्तेवेदार्थसारसंग्रहभूतं दुर्विज्ञेयार्थम्[1]

भगवद्गीता में दृष्टि-भेद से कभी व्यवहारपक्ष की मुख्यता प्रतीत होती है, तो कभी इसमें अध्यात्मपक्ष प्रबल होता है। दोनों दृष्टियों से गीता में कृष्ण द्वारा दिए गए उपदेश सार्थक हैं। जिस काल में गीता की रचना हुई थी उस काल में सांसारिक बंधन से मुक्त होने के लिए अनेक साधनामार्ग स्वीकृत थे। वे यदा-कदा परस्पर विरोधी भी थे। भगवान् कृष्ण ने उन सबको स्वीकार किया किन्तु साथ ही उन्होंने यह प्रतिपादित किया कि कोई भी मार्ग अपने आप में पूर्ण और स्वतंत्र नहीं है। सभी मार्गों का समन्वय करके ही वास्तविक मुक्ति पाई जा सकती है। ब्राह्मणग्रन्थों में प्रतिपादित कर्मकाण्ड का मार्ग हो, वैदिक संहिताओं में देवताओं के प्रति पराभक्ति का मार्ग हो अथवा उपनिषदों का ज्ञानमार्ग हो- इन सभी का समन्वय अर्थात् विरोध में अविरोध प्रकट करने पर ही उस मार्ग की सार्थकता सिद्ध होगी। इस समन्वय को गीता में योग कहा गया । इसके तीन रूप हुए- कर्मयोग, ज्ञानयोग तथा भक्तियोग। प्रत्येक में एक साधन मुख्य है और दूसरे दोनों गुणीभूत हैं। उनमें विरोध का प्रश्न ही नहीं है। कोई योग दूसरे के बिना अपूर्ण है। फिर भी धार्मिक दृष्टि से इन योगों में 'भक्तियोग' की महत्ता सर्वोपरि है।

वैदिक ऋषियों ने देवताओं की उपासना करते हुए आनन्दप्राप्ति के लिए भक्ति को प्रमुख साधन कहा था। देवताओं की आराधना भक्ति के रूप में मानी गई थी। उधर दक्षिण भारत के सन्तों ने भी भक्ति का मार्ग-विस्तार किया। श्रीकृष्ण ने गीता में निष्काम कर्म की सिद्धि के लिए भक्तियोग को स्वीकार किया। इस योग में कर्म और ज्ञान से समर्थित भक्ति की महत्ता है। कृष्ण कहते हैं कि कर्म और उसका फल परस्पर सम्बद्ध है। मनुष्य कोई भी कर्म करता तो उसकी प्रवृत्ति कर्म फल की वासना से भर जाती है। इसलिए यह प्रश्न होता है कि मनुष्य निष्काम कर्म का अनुष्ठान कैसे कर सकता है? वह कर्म करते हुए फलासक्ति कैसे छोड़ सकता है?

भक्तियोग इस समस्या का समाधान करता है। इस योग में श्रद्धा और प्रीति (प्रसन्नता) इन दो मूल्यों का समन्वय होता है यदि मनुष्य अपने आराध्यदेव के प्रति सर्वतो भाव से अपने सभी कर्मों कस निवेदन कर दे तो यह भक्तियोग है। किसी श्रद्धेय को जब हम कुछ देने लगते हैं तो अपनी शक्ति और बुद्धि के अनुसार जो उत्तमोत्तम पदार्थ होते हैं, वही देते हैं। श्रद्धा से अर्पित किया हुआ पदार्थ भिक्षा नहीं है, अपितु वह नैवेद्य है। जब हम आराध्य देव (ईश्वर) के प्रति अपने कर्म को नैवेद्य के रूप में समर्पित करते हैं तो निश्चय ही वे कर्म उत्तमोत्तम होंगे। इस प्रकार भक्तियोग में नैतिक मूल्यों का उत्कर्ष होता है।

कर्म का समर्पण करने से स्वतः कर्मफल की वासना समाप्त हो जाती है। कृष्ण कहते हैं कि ईश्वर की प्रसन्नता के लिए कर्म किए जायँ तो वे कर्म मानव को बंधन में नहीं डालते। भक्तियोग का एक महत्त्वपूर्ण पद्य गीता में इस प्रकार दिया गया है–

यत् करोषि यदश्नासि यज्जुहोषि ददासि यत् ।
यत् तपस्यसि कौन्तेय तत् कुरुष्व मदर्पणम् ॥[2]

अर्थात् हे अर्जुन तुम जो कुछ कर रहे हो, जो खा रहे हो, जो हवन में या दान में दे रहे हो, यहाँ तक कि जो तपस्या कर रहे हो- इन सभी कर्मों को मुझे अर्पित कर दो। यह समर्पण

भाव भक्तियोग की व्याख्या है।

पतञ्जलि ने अपने योग दर्शन में इस भाव को एक नियम एवं क्रियायोग के अन्तर्गत "ईश्वरप्रणिधान" कहा है। ईश्वर को सर्वकर्मसमर्पण ही इसका अर्थ है। कर्म का फल जब मानव स्वयं लेना चाहता है तो वह कर्मबन्धन हो जाता है। कर्म और फल की चक्र-परम्परा अनन्त काल तक चलती रहती है जिसके कारण मानव संसार-चक्र में घूमता रहता है। जब भक्तियोग के अन्तर्गत वह सभी कर्मों से संन्यास लेता है अर्थात् कर्मफल के मूल को ही ईश्वरार्पितकर देता है तो उसका बन्धन नहीं होता।

भक्ति ज्ञानयोग का भी समर्थन करती है। ज्ञानयोग की पराकाष्ठा है। सभी प्राणियों के प्रति एकता का भाव ज्ञानयोग है। परमात्मा का साक्षात्कार भी इसका फल है। वह तो भक्तियोग से स्वतः सिद्ध हो जाता है। भक्ति करनेवाले व्यक्ति का सबकुछ भगवान् स्वयं सिद्ध करते हैं। कृष्ण कहते हैं–

अनन्याश्चिन्तयन्तो मां ये जनाः पर्युपासते ।
तेषां नित्याभियुक्तानां योगक्षेमं वहाम्यहम् ॥[3]

इस प्रकार भक्तियोग से चलनेवाला पुरुष सभी प्राणियों के प्रति मैत्री रखता है। भगवान् की निष्काम उपासना करता है और इसी से उसे स्वरूप-ज्ञान भी होता है।